'मूलाराधना' : ऐतिहासिक, सांस्कृतिक एवं साहित्यिक मूल्यांकन

—प्रो० राजाराम जैन

शौरसेनी प्राकृत के गौरव-ग्रन्थों में 'मूलाराधना' का स्थान सर्वोपरि है। यद्यपि यह ग्रंथ मुख्यतः मुनि-आचार से सम्बन्ध रखता है और उसमें तद्विषयक विस्तृत वर्णनों के साथ-साथ कुछ मौलिक तथ्यों—यथा जैन साधुओं की मरणोत्तर-क्रिया[1], सल्लेखना काल में मुनि-परिचर्या[2], मरण के विभिन्न प्रकार[3] एवं उत्सर्ग-लिङ्गी स्त्रियों[4] की भी जानकारी दी गई है। फिर भी, भौतिक ज्ञान-विज्ञान सम्बन्धी विविध प्रासंगिक सन्दर्भों के कारण इसे संस्कृति एवं इतिहास का एक महिमा-मण्डित कोष-ग्रंथ भी माना जा सकता है। उसमें वर्णित आयुर्वेद-सम्बन्धी सामग्री को देखकर तो ऐसा प्रतीत होता है कि ग्रन्थकार स्वयं ही आयुर्विज्ञान के सैद्धान्तिक एवं प्रायोगिक क्षेत्र में सिद्धहस्त था। बहुत सम्भव है कि उसने आयुर्वेद सम्बन्धी कोई ग्रंथ भी लिखा हो, जो किसी परिस्थिति-विशेष में बाद में कभी लुप्त या नष्ट हो गया हो।

ग्रंथ-परिचय

मूलाराधना का अपर नाम भगवती-आराधना भी है। उसमें सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यग्चारित्र एवं सम्यग्तप रूप चतुर्विध आराधनाओं का वर्णन[5] २१७० गाथाओं में तथा उसका विषय-वर्गीकरण ४० अधिकारों में किया गया है। प्रस्तुत ग्रंथ की लोकप्रियता एवं महत्ता का अनुमान इसी से लगाया जा सकता है कि विभिन्न कालों एवं विविध भाषाओं में उस पर अनेक टीकाएँ लिखी गईं।[6] इसकी कुछ गाथाएँ आवश्यक निर्युक्ति, बृहत्कल्पभाष्य, भत्तिपइण्णा एवं संस्थारण नामक श्वेतांबर ग्रन्थों में भी उपलब्ध हैं।[7] यह कह पाना कठिन है कि किसने किससे उन्हें ग्रहण किया ? किन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि पूर्वाचार्यों की श्रुति-परम्परा ही इनका मूल-स्रोत रहा होगा।

ग्रन्थकार-परिचय

मूलाराधना के लेखक शिवार्य के नाम एवं काल-निर्णय के विषय में पं० नाथूराम प्रेमी[8], डॉ० हीरालाल जैन[9], पं० जुगलकिशोर मुख्तार[10] एवं पं० कैलाशचन्द्र शास्त्री[11] प्रभृति विद्वानों ने विस्तृत रूप में अपने गहन विचार प्रकट किए हैं और प्रायः सभी के निष्कर्षों के आधार पर उनका अपरनाम शिवकोटि[12] या शिवमूर्ति[13] था। वे यापनीय-संघ के आचार्य थे।[14] इनके

---

१. दे० गाथा—१९९९-२०००
२. दे० गाथा—६६२-७३२
३. दे० गाथा—२५-३० तथा २०११-२०८३
४. दे० गाथा—८१
५. दे० गाथा—१-८
६. दे० जैन साहित्य और इतिहास—नाथूराम प्रेमी, पृ ७४-८६
७. वही, पृ० ७१-७३
८. वही, (बम्बई १९५६)पृ० १६-८६
९. दे० भारतीय संस्कृति में जैन धर्म का योगदान, पृ० १०६
१०. अनेकान्त, वर्ष १, किरण १
११. दे० भगवती आराधना (प्रस्तावना)
१२. जैन साहित्य एवं इतिहास, पृ० ७५
१३. भारतीय संस्कृति में जैन धर्म का योगदान, पृ० १०६
१४. जैन साहित्य एवं इतिहास, पृ० ६८-६९

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

गुरु का नाम आर्य सर्वगुप्त[1] था। डॉ० ज्योतिप्रसाद जैन ने कुछ पुष्ट साक्ष्यों के आधार पर इनका समय प्रथम सदी ईस्वी निर्धारित किया है।[2]

मूलाराधना के संस्करण

मूलाराधना के अद्यावधि दो ही संस्करण निकल सके हैं। प्रथम संस्करण मूलाराधना के नाम से नवम्बर १९३५ ई० में सोलापुर से प्रकाशित हुआ, जिसमें कुल पत्र सं० १८७८ तथा मूलगाथा सं० २१७० है।[3] इसमें ३ टीकाएँ प्रस्तुत की गई हैं: (१) अपराजितसूरि (लगभग ९वीं सदी विक्रमी) कृत विजयोदया टीका, (२) महापण्डित आशाधर कृत (लगभग १३वीं सदी) मूलाराधना-दर्पण टीका, एवं माथुरसंघीय अमितगति (११वीं सदी) कृत पद्यानुवाद के रूप में संस्कृत आराधना टीका। मूलाराधना के आद्य सम्पादक पं० फडकुले ने विजयोदया-टीका का हिन्दी अनुवाद एवं ११ पृष्ठों की एक प्रस्तावना भी लिखी, जो परवर्त्ती समीक्षकों के अध्ययन के लिए कुछ आधारभूत सामग्री प्रस्तुत करती रही। वर्तमान में यह संस्करण अनुपलब्ध है।

इसका दूसरा संस्करण सन् १९७८ में जीवराज ग्रन्थमाला सोलापुर से भगवती-आराधना के नाम से प्रकाशित हुआ है।[4] इसके दो खण्ड एवं कुल ९५१ पृष्ठ हैं। इसमें केवल अपराजितसूरि कृत विजयोदया टीका एवं मूल गाथाओं तथा विजयोदया टीका का हिन्दी अनुवाद ही प्रस्तुत किया गया है। परिशिष्ट में गाथानुक्रमणी, विजयोदया टीका में आगत पद्यों एवं वाक्यों की अनुक्रमणी, पारिभाषिक शब्दानुक्रमणी के साथ-साथ ५३ पृष्ठों की विद्वत्तापूर्ण प्रस्तावना एवं भाषा-टीकानुगामी विषय-सूची प्रस्तुत की गई है। प्रथम संस्करण की त्रुटियाँ इस संस्करण में दूर करने का प्रयास किया गया है। इन विशेषताओं से यह संस्करण शोध-कर्त्ताओं के लिए उपादेय बन पड़ा है।

सांस्कृतिक सन्दर्भ

मूलाराधना के आचार दर्शन एवं सिद्धान्त पर तो पर्याप्त प्रकाश डाला जा चुका है, किन्तु उसका सांस्कृतिक पक्ष, जहाँ तक मुझे जानकारी है, अभी तक अचर्चित ही है। इस कारण ईस्वी सन् की प्रारम्भिक सदी की भारतीय संस्कृति को उजागर करने में मूलाराधना का क्या योगदान रहा, इसकी जानकारी आधुनिक शोध-जगत् को नहीं मिल सकी। सांस्कृतिक दृष्टिकोण से अध्ययन करने पर मूलाराधना में शिवार्यकालीन आर्थिक जीवन, कुटीर एवं लघु-उद्योग, विनिमय-प्रकार एवं मुद्राएँ, माप-तौल के साधन, ऋण एवं ऋणी की स्थिति, व्यापारिक कोठियाँ, यातायात के साधन, विभिन्न पेशे एवं पेशेवर जातियाँ, प्राकृतिक, राजनैतिक एवं मानवीय भूगोल, वास्तुकला, शिल्प एवं स्थापत्यकला, वैज्ञानिक रासायनिक प्रक्रियाएँ, आयुर्वेद के विविध स्थान, मानव-शरीर-संरचना एवं भ्रूण-विज्ञान, मानव-शरीर में मस्तक, मेद, ओज, वसा, पित्त एवं श्लेष्मा का प्रमाण, रोग एवं रोगोपचार-विधि एवं औषधियाँ, दण्ड-प्रथा आदि से सम्बद्ध प्रचुर सन्दर्भ-सामग्री उपलब्ध होती है। अतः मूलाराधना पर अभी तक हुए शोध-कार्यों के मात्र पूरक के रूप में उसकी सांस्कृतिक सामग्री को व्यवस्थित रूप में यहाँ संक्षेप में प्रस्तुत करने का प्रयास किया जा रहा है।

आर्थिक चित्रण : उद्योग-धन्धे

मूलाराधना अपने समय की एक प्रतिनिधि रचना है। आर्थिक दृष्टिकोण से उसका अध्ययन करने से उसमें कविकालीन भारत के आर्थिक जीवन एवं उद्योग-धन्धों की स्पष्ट झलक मिलती है। यह भी विदित होता है कि दण्ड-प्रथा अत्यन्त कठोर होने एवं जनसामान्य के प्रायः सरल-प्रकृति तथा कठोर परिश्रमी होने के कारण उस युग का औद्योगिक वातावरण शांत रहता था। सभी को अपनी प्रतिभा, चतुराई एवं योग्यतानुसार प्रगति के समान अवसर प्राप्त रहते थे। कुटीर एवं लघु उद्योग-धन्धों का प्रचलन सामान्य था, जिसे समाज एवं राज्य का सहयोग एवं संरक्षण प्राप्त रहता था। आज जैसे भारी उद्योग-धन्धों (Heavy Industries) के प्रचलन के कोई सन्दर्भ नहीं मिलते। मूलाराधना में विविध उद्योग-सम्बन्धी उपलब्ध सामग्री का वर्गीकरण निम्न प्रकार किया जा सकता है:

१. चर्मोद्योग—चमड़े पर विविध प्रकार के वज्रलेप आदि करके उससे विविध वस्तुओं का निर्माण।[5]

---

१. जैन साहित्य एवं इतिहास, पृ० ९९.
२. J. P. Jain : Jain sources of History of Ancient India, 130-131.
३. पं० जिनदास पार्श्वनाथ फडकुले द्वारा सम्पादित एवं रावजी सखाराम दोसी द्वारा प्रकाशित।
४. पं० कैलाशचन्द्र शास्त्री द्वारा सम्पादित।
५. चम्मेण सह प्रवेंतो······जोणिगसिलेसो—गाथा ३३७.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

२. सूती वस्त्रोद्योग—सूती वस्त्रों का निर्माण, उन पर चित्रकारी, वस्त्र-सिलाई, कढ़ाई एवं रंगाई।[1]

३. रेशमी वस्त्रोद्योग—रेशम के कीड़ों का पालन-पोषण एवं रेशमी वस्त्र-निर्माण।[2]

४. बर्तन-निर्माण—कांसे के बर्तनों का निर्माण अधिक होता था।[3] स्वास्थ्य के लिए हितकर होने की दृष्टि से उसका प्रचलन अधिक था। आयुर्वेदीय-सिद्धान्त के अनुसार उसमें भोजन-पान करने से प्रयोक्ता को विशिष्ट ऊर्जा-शक्ति की प्राप्ति होती थी।

५. सुगन्धित पदार्थों का निर्माण—शारीरिक सौन्दर्य के निखार हेतु जड़ी-बूटियों एवं लोध्र आदि पदार्थों से स्नान-पूर्व मर्दन, अभ्यंगन की सामग्री का निर्माण, मिट्टी के सुवासित मुख-लेपन-चूर्ण (Face Powders) एवं अन्य वस्तुएँ।[4]

६. रत्नछेदन-घर्षण—रत्नों की खराद एवं उनमें छेद करना।[5]

७. औषधि-निर्माण।

८. आभूषण-निर्माण—मुकुट, अंगद, हार, कड़े आदि बनाने के साथ-साथ लोहे पर सोने का मुलम्मा अथवा पत्ता-पानी चढ़ाना[6] तथा लाख की चूड़ियाँ बनाना।[7]

९. मूर्त्ति-निर्माण[8]।

१०. चित्रनिर्माण[9]।

११. युद्ध-सामग्री का निर्माण (दे० गाथा० १२२२)

१२. नौका-निर्माण (दे० गाथा० १२२२)

१३. लौह उद्योग (दे० गाथा—१२२२) दैनिक आवश्यकताओं की वस्तुएँ तैयार करना।

मुद्राएँ (सिक्के)

मुद्राएँ मानव-समाज के आर्थिक विकास की महत्त्वपूर्ण प्रतीक मानी गई हैं। ईसापूर्व काल में वस्तु-विनिमय का प्रमुख साधन प्रायः वस्तुएँ ही थीं, जिसे आधुनिक अर्थशास्त्रियों ने Barter System कहा है। किन्तु इस प्रणाली से वस्तु-विनिमय में अनेक प्रकार की कठिनाइयों के उत्पन्न होने के कारण धीरे-धीरे एक नये विनिमय के माध्यम की खोज की गई, जिसे मुद्रा (सिक्का) की संज्ञा प्रदान की गई। मूलाराधनाकाल चूंकि मुद्राओं के का विकास-काल था, अतः उस समय तक सम्भवतः अधिक मुद्रा-प्रकारों का प्रचलन नहीं हो पाया था। ग्रन्थकार ने केवल ३ मुद्रा-प्रकारों की सूचना दी है, जिनके नाम हैं—कागणी,[10] कार्षापण[11] एवं मणि[12]। कागणी सिक्के की सम्भवतः अन्तिम छोटी इकाई थी।

विनिमय के साधन (Medium of Exchange)

वस्तु-विनिमय के माध्यम यद्यपि पूर्वोक्त मुद्राएँ थीं, किन्तु मूलाराधना के टीकाकार अपराजित सूरि ने वस्तु-विनिमय प्रणाली अर्थात् Barter System के भी कुछ सन्दर्भ प्रस्तुत किए हैं। हो सकता है कि उस समय अधिक मुद्राओं की उपलब्धि न होने अथवा उनका प्रचार अधिक न हो पाने अथवा मुद्राओं की क्रय-शक्ति कम होने के कारण विशेष परिस्थितियों में वस्तुविनिमय प्रणाली (Barter System) भी समानान्तर रूप में उस समय प्रचलन में रही हो। अपराजितसूरि के अनुसार यह प्रणाली दो प्रकार की थी—

---

१. तुण्णाई उण्णइ जाचइ···गाथा ९१७
चित्तपडं व विचित्तं ···गाथा २१०५

२. कोसेण कोसियारुव्व···गाथा ९१९

३. कसियभिगारो···गाथा ५७९

४. गंधं मल्लं च धूव वासं वा। संवाहण परिमद्दण···गाथा ९४
···गंधेण मट्टिया···गाथा ३४२
पाहाणधातु अंजणपुढवितयाछल्लिवल्लि मूलेहिं। मुहकेसवास तंबोलगंधमल्लेहिं धूवेहिं।
···गोसीसं चंदणं च गंधेसु···गाथा १८९६

५. वइरंरयणेसु...वेरुलियं व मणीणं···गाथा १८९६
···चिंतामणि···गाथा १४६५

६-७. रसपीदयं व कडयं अहवा कवडुक्कडं जहा कडयं। अहवा जदुपूरिदयं···गाथा ५८३

८. दे गाथा सं० १५६९ (लोहपडिमा)···गाथा सं० २००८—(पुव्वरिसीणंपडिमा)

९. दे० गाथा १३३६

१०-११-१२ दे० कागाणि लाभे कार्षापणं वाञ्छति···गाथा सं० ११२७ की विजयोदया टीका, पृ० ११३६···कागणीए विक्केइ मणिं वहुकोडिसयमोल्लं। गाथा सं० १२२१

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

(१) द्रव्यक्रीत[1]—अर्थात् जिसमें सचित्त गो-बलीवर्द आदि तथा अचित्त घृत, गुड़-खाण्डादिक देकर बदले में इच्छित वस्तुओं का क्रय किया जाता था। (२) भावभीत विनिमय का दूसरा माध्यम भावक्रीत कहलाता था, जिसमें विद्या, मन्त्र आदि सिखाकर अथवा विद्या, मन्त्र-तन्त्र आदि के द्वारा किसी को कष्टमुक्त कर उसके बदले में उससे कोई इच्छित वस्तु प्राप्त की जाती थी।[2]

माप-तौल के साधन

माप-तौल के प्रमाणस्वरूप ग्रन्थकार ने अंजली,[3] आढक,[4] पल[5] एवं प्रस्थ[6] का उल्लेख किया है। मूलाराधना के टीकाकार पं० आशाधर ने १ प्रस्थ को १६ पल के बराबर[7] तथा १ आढक को ६४ पल के बराबर[8] माना है। सुप्रसिद्ध वैय्याकरण पाणिनि[9] के अनुसार—

४ तोले का १ पल, ४ पल की १ अंजली (कौटिल्य के अनुसार १२।। तोले की) तथा चरक के अनुसार १ सेर का १ आढक (कौटिल्य के अनुसार २।। सेर का) तथा पाणिनि के अनुसार ५० तोला का १ प्रस्थ। पाणिनि ने इसका अपरनाम कुलिज भी कहा है। उपर्युक्त प्रस्थ एवं आढक बुन्देलखण्ड के ग्रामों में प्रचलित वर्तमान पोली एवं अढइया से पूरा मेल खाते हैं।

श्रम-मूल्य निर्धारण

श्रम का मूल्य श्रम अथवा श्रमिक की योग्यतानुसार नकद द्रव्य या बदले में आवश्यक वस्तुएँ देकर आँका जाता था। नकद द्रव्य लेकर श्रम बेचने वाले श्रमिकों को भृतक अथवा कर्मकर की संज्ञा प्राप्त थी।[10]

ऋण एवं ऋणी की स्थिति

वर्तमान-युग में ऋण का लेन-देन मानव-सभ्यता एवं आर्थिक विकास का प्रतीक माना गया है, किन्तु प्राचीन काल का दृष्टिकोण इससे भिन्न प्रतीत होता है। अतः उस समय सामान्यतया राज्य की ओर से न तो ऋण देने की व्यवस्था का ही उल्लेख मिलता है और न उस समय ऋण लेना अच्छा ही माना जाता था। पाणिनि ने ऋण लेने वाले को अधमर्ण[11] अधम-ऋण अथवा (आधा मरा हुआ) तथा ऋण देने वाले सेठ-साहूकार को कुत्सितार्थक कुसीदिक[12] अर्थात् सूदखोर कहा गया है। मूलाराधना काल में णयरसेट्ठी (नगरसेठ या साहूकार) ही वस्तुतः उस समय के बैंकों का कार्य करते थे। आज की भाषा में इसे Indeginous-Bank-System कहा गया है। इस प्रकार के नगरसेठ या साहूकार को मूलाराधना में धणिद[13] (अर्थात् धनद या उत्तमर्ण) कहा गया है और ऋण लेने वाले को धारणी[14] या धारक (Bearer) कहा गया है। यहाँ यह तथ्य ध्यातव्य है कि शिवार्य ने कर्जदार को अधमर्ण नहीं माना है, उसे धारणी या धारक कहा है। इसका तात्पर्य यह है कि ईस्वी सन् के प्रारम्भिक वर्षों में कर्जदार अथवा साहूकार को उतना कुत्सित नहीं माना जाता था, जितना पाणिनि-युग में। वस्तुतः शिवार्य का युग आर्थिक विकास का युग था। इस प्रकार के युग में कर्ज का लेन-देन आवश्यक जैसा माना जाने लगता है।

मूलाराधना में एक प्रसंग में बताया गया है कि अपराधी व्यक्ति यदि कारागार में बन्द रहते हुए भी किसी धणिद से ऋण की याचना करता था तो उसे कुछ शर्त्तों पर निश्चित अवधि तक के लिए ऋण मिल सकता था और उस द्रव्य से वह कारामुक्त हो सकता था।[15] निश्चित अवधि समाप्त होते ही धणिद धारणी से ब्याज सहित अपना ऋण वसूल कर लेता था।[16] यदि वह वापिस नहीं लौटाता था तो धणिद को यह अधिकार रहता था कि वह उसे पुनः कारागार में बन्द करा दे।[17] मूलाराधना में ब्याज की दरों आदि के संकेत नहीं मिलते।

---

१. दे० गाथा सं० २३० की विजयोदया टीका, पृ० ४४३—सचित्तं गो-बलीवर्दकं दत्वा······अचित्तं घृतगुडखंडादिकं दत्वा क्रीतं द्रव्यक्रीतं। विद्यामन्त्रादि-दानेन वा क्रीतं भावक्रीतम्।

२. दे० गाथा २३० की मूलाराधनादर्पण टीका।

३ से ८. दे० गाथा १०३४ की मूलाराधनादर्पणटीका, पृ० १०७६—अद्धाढगं द्वात्रिंशत्पलमात्रम्, तथा गाथा १०३५ की मूला० टी०, पृ० १०७६ प्रस्थ:षोडशपलानि···

९. दे० पाणिनि-परिचय (भोपाल, १९६५) पृ० ७४-७५.

१०. दे० गाथा १४७५—गहिदवेयणो···भिच्चो—मूला० टी०—गहि दवेयणो गृहीतं वेतनं कर्ममूल्यं येन, भदगो भृतक: कर्मकर:।

११. दे० पाणिनि-परिचय, पृ० ७८.

१२. दे० पाणिनि-परिचय, पृ० ७८-७९.

१३-१४. दे० गाथा सं० १४२५—पुव्वंसयभुवभुत्तं काले णाएण तेत्तियं दव्वं। तथा १६२६—को धारणीओ धणियस्सदितओ दुक्खिओ होज्ज।
प्रथम संस्करण में यह गाथा पुनरुक्त है।

१५-१७. दे० गाथा सं० १२७९—दाऊण जहा अत्थं रोधनमुक्को सुहं घरे बसइ।
पत्ते समए य पुणो रुंभइ तह चेव धारणिओ।।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

व्यापारिक कोठियाँ (Chambers of Commerce and Markets)

मूलाराधना में विविध भवन-प्रकारों में 'आगंतुकागार'[1] का उल्लेख भी मिलता है। अपराजितसूरि ने उसका अर्थ आगन्तुकानां वेश्म[2] तथा पं० आशाधर ने 'सार्थवाहादि गृहम्'[3] किया है जो प्रसंगानुकूल होने से उचित ही है। इसका संकेत नहीं मिलता कि इन सार्थवाहगृहों अथवा व्यापारिक कोठियों की लम्बाई-चौड़ाई क्या होती थी तथा सार्थवाहों से उसके उपयोग करने के बदले में क्या शुल्क लिया जाता था। किन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि ये सार्थवाह-गृह चारों ओर से सुरक्षित अवश्य रहते होंगे तथा उनमें सर्वसुविधासम्पन्न आवासीय कक्षों के साथ-साथ व्यापारिक सामग्रियों को अल्प या दीर्घकाल तक सुरक्षित रखने के लिए भण्डारगृह (Godowns) की सुविधाएँ भी प्राप्त रहती होंगी। एक प्रकार से ये सार्थवाहगृह क्रय-विक्रय के केन्द्र तो रहते ही होंगे, साथ ही राज्य की औद्योगिक रीति-नीति के निर्धारक-केन्द्र भी माने जाते रहे होंगे। पाणिनि ने इन्हें 'भाण्डागार' कहा है।

मार्ग-प्रणाली

मूलाराधना में मार्ग-प्रकारों में जलमार्ग एवं स्थलमार्ग के उल्लेख भी मिलते हैं। जलमार्ग से नौकाओं द्वारा विदेश-व्यापार हेतु समुद्री यात्रा का उल्लेख मिलता है।[4] इसके अनेक प्रमाण मिल चुके हैं कि प्राचीन भारतीय सार्थवाह दक्षिण-पूर्व एशिया, मध्य एशिया, उत्तर-पश्चिम एशिया, योरुप तथा वर्त्तमान अफ्रिका के आस-पास के द्वीप-समूहों से सुपरिचित थे। प्रथम सदी के ग्रीक लेखक प्लीनी ने लिखा है कि "विदेश-व्यापार के कारण भारत को बहुत लाभ होता है और रोम-साम्राज्य का बहुत अधिक धन भारत चला जाता है।"[5] स्थल मार्गों में किसी दीर्घ एवं विशाल राजमार्ग की चर्चा नहीं मिलती है, किन्तु कुछ ग्रामीण, आटविक एवं पर्वतीय मार्गों के उल्लेख अवश्य मिलते हैं जिनके नाम इस प्रकार हैं[6]—

१. ऋजुवीथि—सरल मार्ग।
२. गोमूत्रिक—गोमूत्र के समान टेढ़ा-मेढ़ा मार्ग।
३. पेलविय—बाँस एवं काष्ठ-निर्मित चतुष्कोण पेटी के आकार का मार्ग।
४. शंबूकावर्त्त—शंख के आवर्त्त के आकार का मार्ग।
५. पतंगवीथिका—लक्ष्य-स्थल तक बना हुआ मार्ग।

पेशे एवं पेशेवर जातियाँ

विभिन्न पेशों एवं पेशेवर जातियों के उल्लेखों की दृष्टि से मूलाराधना का विशेष महत्त्व है। ग्रन्थ-लेखन-काल तक भारत में कितने प्रकार के आजीविका के साधन थे और उन साधनों में लगे हुए लोग किस नाम से पुकारे जाते थे, ग्रन्थ से इसकी अच्छी जानकारी मिलती है। तत्कालीन सामाजिक दृष्टि से भी उसका विशेष महत्त्व है। महाजनपद युग विभिन्न पेशों अथवा शिल्पों का विकास-युग माना गया है, जिसकी स्पष्ट झलक मूलाराधना में मिलती है। उसमें ३७ प्रकार के पेशों एवं पेशेवर जातियों के उल्लेख मिलते हैं, जो इस प्रकार हैं :—

(१) गंधव्व (गान्धर्व)
(२) णट्ट (नर्त्तक)
(३) जट्ट (हस्तिपाल)
(४) अस्स (अश्वपाल)
(५) चक्क (कुम्भकार)
(६) जंत (तिल, इक्षुपीलनयन्त्र, यान्त्रिक)
(७) अग्गिकम्म (आतिशबाज)
(८) फरुस (शांखिक, मणिकार आदि)
(९) णत्तिक (कौलिक, जुलाहा)
(१०) रजय (रजक)

---

१. दे० गाथा सं० २३१.

२-३. दे० गाथा सं० २३१ की विजयोदया एवं मूला० टी०, पृ० ४५२.

४. दे० गाथा १६७३— …वाणियगा सागरजलम्भिणावाहिं रयणपुण्णाहिं।
पत्तणमासण्णा विहु पमादमूढ़ा वि वज्जंति ॥

५. दे० डॉ० रामजी उपाध्याय—भारतीय संस्कृति का उत्थान (इलाहाबाद, वि० सं० २०१८), पृ० २१२.

६. दे० गाथा २१८— …उज्जुवीहि गोमुत्तियं च पेलवियं।
संबूकावट्टंपि य पदंगवीधीय… ॥ पृ० ४३३.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

(११) पाडहिय (पटहवादक)
(१२) डोम्ब (डोम)
(१३) णड (नट)
(१४) चारण
(१५) कोट्टय (कुट्टक, लकड़ी एवं पत्थर की काटकूट करने वाले)
(१६) करकच (कतर-ब्योंत करने वाले)
(१७) पुष्पकार (माली)
(१८) कल्लाल (नशीली वस्तुएँ बेचने वाले)
(१९) मल्लाह[1]
(२०) काष्ठिक (बढ़ई)
(२१) लौहिक (लुहार)
(२२) मात्सिक
(२३) पात्रिक
(२४) कांडिक
(२५) दाण्डिक
(२६) चार्मिक
(२७) छिपक
(२८) भेषक
(२९) पण्डक
(३०) सार्थिक
(३१) सेवक
(३२) ग्राविक
(३३) कोट्टपाल
(३४) भट
(३५) पण्यनारीजन
(३६) द्यूतकार, एवं
(३७) विट[२]

भौगोलिक सामग्री

किसी भी देश के निर्माण एवं विकास तथा सामाजिक, आर्थिक एवं राजनैतिक परिस्थितियों के नियन्त्रण में वहां की भौगोलिक परिस्थितियों का सक्रिय योगदान रहता है। भारत में यदि हिमालय, गंगा, सिन्धु, समुद्रीतट एवं सघन वन आदि न होते, तो उसकी भी वही स्थिति होती जो अधिकांश अफ्रीकी देशों की है। मूलाराधना यद्यपि धर्म-दर्शन एवं आचार का ग्रन्थ है, फिर भी उसमें भारतीय भूगोल के तत्कालीन प्रचलित कुछ उल्लेख उपलब्ध होते हैं, जिनका आधुनिक भौगोलिक सिद्धान्तों के सन्दर्भ में वर्गीकरण एवं संक्षिप्त विश्लेषण यहाँ प्रस्तुत किया जा रहा है :—

१. **प्राकृतिक भूगोल**—इसके अन्तर्गत प्रकृति-प्रदत्त पृथ्वी, पर्वत, नदियां, वनस्पति, जलवायु, हवा आदि का अध्ययन किया जाता है। मूलाराधना में पर्वतों में मुद्गल पर्वत,[३] कोल्लगिरि[४] एवं द्रोणमति पर्वत[५] के उल्लेख मिलते हैं। महाभारत के अनुसार कोल्लगिरि दक्षिण भारत का वह पर्वत है, जिससे कावेरी नदी का उद्गम हुआ है[६]। द्रोणमति पर्वत एवं मुद्गल पर्वत की अवस्थिति का पता नहीं चलता। महाभारत में इस नाम के किसी पर्वत का उल्लेख नहीं हुआ है। प्राकृतागमों में उल्लिखित एक **मुद्गलगिरि** की पहिचान आधुनिक मुंगेर (बिहार) से की गई है[७]।

नदियों में गंगा[८] एवं यमुना के नामोल्लेख मिलते हैं। यमुना को णइपूर[९] कहा गया है, जिसका अर्थ टीकाकारों ने यमुना नदी किया है। विदित होता है कि ग्रन्थकार के समय से टीकाकार के समय तक यमुना नदी में अन्य नदियों की अपेक्षा अधिक बाढ़ आती रहती थी। अतः उसका अपरनाम 'णइपुर' (बाढ़ वाली नदी) के नाम से प्रसिद्ध रहा होगा।

अन्य सन्दर्भों में पृथिवी के भेदों में मिट्टी, पाषाण, बालू, नमक एवं अभ्रक आदि, जल के भेदों में हिम, ओसकण, हिम विन्दु आदि,[१०] वायु के भेदों में झंझावात (जलवृष्टियुक्त वायु—Cyclonic winds) तथा माण्डलिक (वर्तुलाकार भ्रमण करती हुई)

---

१. दे० गाथा ६३३-३४—गंधव्वणट्टजट्टरसचक्क जंतग्गिकूम्मफरुसेय।
णत्तिय रजयापाडहिडोंबणडरायमग्ग य॥
चारण कोट्टगकल्लाल करकचे पुप्फदय''' ।
२. दे० मूलाराधना की अमितगति सं० टी० श्लोक सं० ६५६-६५७। पृ० सं० ८३४-३५ तथा गाथा सं० १७७४.
३. गाथा सं० १४५०...मोग्गलगिरि...
४. गाथा सं० १५५२...दोणिमंत...
५. गाथा सं० २०७३...कोल्लगिरि...
६. महाभारत—सभापर्व ३१/६८.
७. भारत के प्राचीन जैन तीर्थ (डॉ० जे० सी० जैन), वाराणसी, १९५२, पृ० २६
८. गाथा—१५४३.
९. गाथा. १५४५.
१०. गाथा ६०८ की विजयोदया टीका, पृ० ८०५-६.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

वायु ; तथा वनस्पति (Vegetation) के भेदों में बीज, अनन्तकायिक, प्रत्येककायिक, वल्ली, गुल्म, लता, तृण, पुष्प एवं फल आदि को लिया गया है जो वर्तमान प्राकृतिक भूगोल के भी अध्ययनीय विषय हैं।

प्राकृतिक दृष्टि से प्रदेशों का वर्गीकरण कर उनका नामकरण इस प्रकार किया गया है—

१. अनूप देश[1]—जलबहुल प्रदेश।

२. जांगल देश[2]—वन-पर्वत बहुल एवं अल्पवृष्टि वाला प्रदेश।

३. साधारण देश[3]—उक्त प्रथम दो लक्षणों के अतिरिक्त स्थिति वाला प्रदेश।

राजनैतिक भूगोल—राजनैतिक भूगोल वह कहलाता है, जिसमें प्रशासनिक सुविधाओं की दृष्टि से द्वीपों, समुद्रों, देशों, नगरों-ग्रामों आदि की कृत्रिम सीमाएँ निर्धारित की जाती हैं। इस दृष्टि से मूलाराधना का अध्ययन करने से उसमें निम्न देशों, नगरों एवं ग्रामों के नामोल्लेख मिलते हैं—

देशों में बर्बर[4], चिलातक[5], पारसीक[6], अंग,[7] वंग[8] एवं मगध[9] के नाम मिलते हैं। जैन-परम्परा[10] के अनुसार ये देश कर्म-भूमियों के अन्तर्गत वर्णित हैं। ग्रन्थकार ने प्रथम तीन देश म्लेच्छदेशों में बताकर उन्हें संस्कारविहीन देश कहा है।[11]

महाभारत में भी बर्बर को एक प्राचीन म्लेच्छदेश तथा वहाँ के निवासियों को बर्बर कहा गया है[12]। नकुल ने अपनी पश्चिमी दिग्विजय के समय उन्हें जीतकर उनसे भेंट वसूल की थी[13]। एक अन्य प्रसंग के अनुसार वहाँ के लोग युधिष्ठिर के राजसूय-यज्ञ में भेंट लेकर आए थे[14]। प्रतीत होता है कि यह बर्बर देश ही आगे चलकर अरब देश के नाम से प्रसिद्ध हो गया। उत्तराध्ययन की सुखबोधा टीका के मूलदेव कथानक में एक प्रसंगानुसार सार्थवाह अचल ने व्यापारिक सामग्रियों के साथ पारसकुल की यात्रा जल-मार्ग द्वारा की तथा वहाँ से अनेक प्रकार की व्यापारिक सामग्रियाँ लेकर लौटा था। प्रतीत होता है कि यही पारसकुल मूलाराधना का पारसीक देश है। वर्तमान में इसकी पहिचान ईराक-ईरान से की जाती है। क्योंकि ये देश आज भी Percian Gulf के देश के नाम से प्रसिद्ध हैं।

चिलातक देश का उल्लेख बर्बर एवं पारसीक के साथ म्लेच्छ देशों में होने से इसे भी उनके आसपास ही होना चाहिए। हो सकता है कि वह वर्तमान **चित्राल** हो, जो कि आजकल पाकिस्तान का अंग बना हुआ है।

अंग एवं मगध की पहिचान वर्तमानकालीन बिहार तथा बंगदेश की पहिचान वर्तमानकालीन बंगाल एवं बंगलादेश से की गई है।

नगरों में पाटलिपुत्र[15], दक्षिण-मथुरा[16], मिथिला[17], चम्पानगर[18] कोसल अथवा अयोध्या[19] एवं श्रावस्ती[20] प्रमुख हैं। ये नगर प्राच्य भारतीय वाङ्मय में अत्यन्त महत्वपूर्ण स्थान रखते हैं। जैन, बौद्ध एवं वैदिक कथा-साहित्य तथा तीर्थंकरों तथा बुद्ध, राम एवं कृष्ण-चरित में और भारतीय इतिहास की प्रमुख घटनाओं का कोई-न-कोई प्रबल पक्ष इन नगरों के साथ इस भाँति जुड़ा हुआ है कि इनका उल्लेख किए बिना वे अपूर्ण जैसे ही प्रतीत होते हैं।

अन्य सन्दर्भों में कुल[21], ग्राम[22] एवं नगर[23] के उल्लेख आए हैं। ग्रामों में 'एकरथ्या ग्राम'[24] का सन्दर्भ आया है। सम्भवतः यह ऐसा ग्राम होगा जो कि एक ही ऋजुमार्ग के किनारे-किनारे सीधा लम्बा बसा होगा। समान स्वार्थ एवं सुरक्षा को ध्यान में रखकर ग्रामों, नगरों अथवा राज्यों का जो संघ बन जाता था, वह कुल कहलाता था।

१-३. दे० गाथा ४५० की टीका, पृ० सं० ६७७.

४-६. दे० गाथा सं० १८६६ की टीका, पृ० सं० १६७३-७४.

१०-११ वही

१२. महाभारत—सभापर्व, ३२/१७.

१३. महाभारत—सभापर्व, ५१/२३.

१४. प्राकृत प्रबोध—(मूलदेव कथानक), चौखम्भा, वाराणसी।

१५. दे० गाथा सं० ४४ की टीका, पृ० १४४, तथा गाथा सं० २०७४.

१६. दे० गाथा सं० ६० की टीका, पृ० १८७.

१७. दे० गाथा सं० ७५२.

१८. दे० गाथा सं० ७५६.

१९. दे० गाथा सं० २०७३.

२०. दे० गाथा सं० २०७५ की टीका, पृ० १०६७.

२१-२३. गाथा सं० २६३.

२४. गाथा ११२८.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मानवीय भूगोल—इसके अन्तर्गत मानव जाति के क्रमिक विकास की चर्चा रहती है। मूलाराधना में ४ प्रकार के मनुष्यों के उल्लेख मिलते हैं: (१) कर्मभूमिज[1] अर्थात् वे मनुष्य, जो कर्मभूमियों में निवास करते हैं और जहां असि, मषि, कृषि, शिल्प, सेवा, वाणिज्य आदि के साथ-साथ पशु-पालन एवं व्यावहारिकता आदि कार्यों से आजीविका के साधन मिल सकें। साथ ही साथ स्वर्ग-मोक्ष प्राप्त करने के साधन भी मिल सकें। इस भूमि के मनुष्य अपने-अपने कर्मों एवं संस्कारों के अनुरूप प्राय: सुडौल एवं सुन्दर होते हैं।

२. मूलाराधना के टीकाकार के अनुसार अन्तर्द्वीपज[2] मनुष्य वे हैं, जो कालोदधि एवं लवणोदधि समुद्रों के बीच स्थित ९६ अन्तर्द्वीपों में से कहीं उत्पन्न होते हैं। ये गूंगे, एक पैर वाले, पूंछ वाले, लम्बे कानों वाले एवं सींगोंवाले होते हैं। किसी-किसी मनुष्य के कान तो इतने लम्बे होते हैं कि वे उन्हें ओढ़ सकते हैं। कोई-कोई मनुष्य हाथी एवं घोड़े के समान कानों वाले होते हैं।

३. भोगभूमिज[3] मनुष्य **मद्यांग, तूर्यांग** आदि १० प्रकार के कल्पवृक्षों के सहारे जीवन व्यतीत करते हैं।

४. **सम्मूर्च्छिम**[4] मनुष्य **कर्मभूमिज** मनुष्यों के श्लेष्म, शुक्र, **मल-मूत्र** आदि अंगद्वारों के मल से उत्पन्न होते ही मर जाते हैं। उनका शरीर अंगुल के असंख्यातवें भाग प्रमाण बताया गया है।

उक्त मनुष्य-प्रकारों में से अन्तिम तीन प्रकार के मनुष्यों का वर्णन विचित्र होने एवं नृतत्त्व-विद्या (Anthropology) से मेल न बैठने के कारण उन्हें पौराणिक-विद्या की कोटि में रखा जाता है। वैसे अन्तर्द्वीपज मनुष्यों का वर्णन बड़ा ही रोचक है। रामायण, महाभारत एवं प्राचीन लोककथाओं में लम्बे कानों वाले मनुष्यों की कहानियां देखने को मिलती हैं। इनके उल्लेखों का कोई न कोई आधार अवश्य होना चाहिए। मेरा विश्वास है कि इस प्रकार की मानव जातियाँ या तो नष्ट हो गई हैं अथवा इनकी खोज अभी तक हो नहीं पाई है। मानव-भूगोल (Human Geography) सम्बन्धी ग्रन्थों के अवलोकन से यह विदित होता है कि अन्वेषकों ने अभी तक बाल, सिर, नाक, शरीर के रंग एवं लम्बाई-चौड़ाई के आधार पर मानव-जातियों की खोजकर उनका तो वर्गीकरण एवं विश्लेषण कर लिया है,[5] किन्तु लम्बकर्ण जैसी मानव-जातियाँ वे नहीं खोज पाए हैं। अत: यही कहा जा सकता है कि या तो वे अभी अगम्य पर्वत-वनों की तराइयों में कहीं छिपी पड़ी हैं अथवा नष्ट हो चुकी हैं।

कला एवं विज्ञान—कला का उपयोग लोकरुचि के साथ-साथ कुछ धार्मिक, दार्शनिक एवं सांस्कृतिक परम्पराओं को व्यक्त करने हेतु किया जाता है। प्रदर्शनों के माध्यम पत्थर, लकड़ी, दीवाल, मन्दिर, देवमूर्ति, ताड़पत्र एवं भोजपत्र आदि रहे हैं। धीरे-धीरे इनमें इतना अधिक विकास हुआ कि इन्हें वास्तु, स्थापत्य, शिल्प, चित्र, संगीत आदि कलाओं में विभक्त किया गया। इस दृष्टि से अध्ययन करने पर मूलाराधना में वस्तुकला के अन्तर्गत गन्धर्वशाला, नृत्यशाला, हस्तिशाला, अश्वशाला, तैलपीलन, इक्षुपीलन सम्बन्धी यन्त्रशाला, चक्रशाला, अग्निकर्मशाला, शांखिक एवं मणिकारशाला, कौलिकशाला, रजकशाला, नटशाला, अतिथिशाला, मद्यशाला, देवकुल, उद्यानगृह[6] आदि स्थापत्य एवं शिल्प के अन्तर्गत लोहपडिमा[7] पुव्वरिसीणपडिमा[8], कट्ठकम्म[9], चितकम्म[10], जोणिकसलेस[11], कंसियभिगार[12] आदि तथा संगीतकला के अन्तर्गत पांचाल-संगीत[13] के नामोल्लेख मिलते हैं।

विज्ञान—मूलाराधना यद्यपि आचार सिद्धान्त एवं अध्यात्म का ग्रन्थ है किन्तु यह नहीं भूलना चाहिए कि आत्म-विद्या के साथ-साथ भौतिक विद्याओं का भी निरन्तर विकास होता रहता है। बल्कि यह कहना अधिक उपयुक्त होगा कि भौतिक विद्याओं से ही आत्म विद्या के विकास की प्रेरणा मिलती रही है। ईस्वी की प्रथम सदी तक जैनाचार्य शिवार्य को तत्कालीन भौतिक विज्ञान-विकास की कितनी जानकारी थी, उसकी कुछ झलक प्रस्तुत ग्रन्थ में मिलती है, जिसका परिचय निम्न प्रकार है :

---

१. गाथा ४४६ की सं० टी०, पृ० ६५३.
२-४. दे० गाथा ४४६ की टीका, पृ० ६५२.
५. दे० मानव भूगोल—एस० डी० कौशिक (मेरठ १९७३-७४)।
६. गाथा ६३३-६३४—गंधव्वणट्टजट्टस्सचक्कजंतग्गिकम्म फरुसेय।
णत्तियरजयापाडहिडोंवणड………॥
चारणकोट्टग कल्लालकरकच………।
७-८. दे० गाथा २००८ तथा १५६९.
९. दे० गाथा १०५९—रूवाणि कट्ठकम्मादि………
१०. दे० गाथा. १३३६.
११. दे० गाथा. ३३७.
१२. दे० गाथा ५७९.
१३. दे० गाथा १३५६.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

शिवार्य ने जोणिकसलेसो[1] (वज्रलेपः), रसपीदय[2] (रसरसितम्) कवडुक्कडं[3] (तनुस्वर्णपत्राच्छादितम्), जदुपूरिदय[4] (जतुपूर्णम्) जैसी रासायनिक प्रक्रियाओं की सूचना देते हुए वज्रलेपयुक्तचर्म[5], स्वर्णरसाच्छादित लौहकटक[6] स्वर्णपत्राच्छादित लौहकटक[7] तथा किमिराग कंवल[8] जदुरागवत्थ[9] स्वर्ण के साथ लाक्षा-क्रिया आदि उदाहरण के रूप में प्रस्तुत किए हैं। यद्यपि वज्रलेप एवं अन्य रासायनिक प्रक्रियाओं की विधि ग्रन्थ में नहीं बतलाई गई है किन्तु इतना अवश्य है कि जन सामान्य के लिए उनकी जानकारी हो चुकी थी। अन्य प्रमाणों से भी यह सिद्ध हो चुका है कि वज्रलेप कई प्रकार का होता था तथा चमड़े एवं पत्थर पर उसका लेप कर देने से अल्पमूल्य की सामग्रियाँ भी बहुमूल्य, सुन्दर एवं टिकाऊ बन जाती थीं। कहा जाता है कि प्रियदर्शी सम्राट अशोक के स्तम्भ बलुई पत्थर[10] से निर्मित थे किन्तु वज्रलेप के कारण ही लोगों ने प्रारम्भ में उन्हें फौलादी मान लिया था। बरावर (गया, बिहार) की पहाड़ी गुफाओं में भी अशोक द्वारा आजीविक-परिव्राजकों एवं निर्ग्रन्थों के लिए निर्मापित गुफाओं में वज्रलेप ही किया गया था, जिनके कारण वे आज भी शीशे की तरह चमकती हैं।

आयुर्विज्ञान—मूलाराधना में आयुर्विज्ञान-सम्बन्धी प्रचुर सामग्री उपलब्ध है। चरक एवं सुश्रुत संहिताओं को दृष्टि में रखते हुए उसका वर्गीकरण निम्न ८ भागों में किया जा सकता है—

१. **सूत्रस्थान**—जिसमें ग्रन्थकार ने चिकित्सक के कर्तव्य की सूचना देते हुए कहा है कि प्रारम्भ में उसे रोगी से तीन प्रश्न (तिक्खुतो, गा० ६१८) करना चाहिए कि तुम क्या खाते हो, क्या काम करते हो और तुम अस्वस्थ कब से हो ? इसके साथ-साथ इसमें औषधि के उपयोग[11], रोगोपचार[12], भोजन विधि[13] का वर्णन रहता है।

२. **निदान स्थान**—जिसके अन्तर्गत कुष्ठ[14], ज्वर[15], खांसी[16] आदि रोगों के उल्लेख मिलते हैं।

३. **विमान स्थान**—जिसके अन्तर्गत रोग-निदान[17] आदि रहते हैं।

४. **शरीर स्थान**—जिसमें शरीर का वर्णन[18] एवं शरीर तथा जीव का सम्बन्ध[19] बताया जाता है।

५. **इन्द्रिय स्थान**—जिसमें इन्द्रियों का वर्णन, उनके रोग एवं मृत्यु का वर्णन किया जाता है[20]।

६. **चिकित्सा स्थान**—इसमें श्वास, कास, कुच्छि (उदरशूल), मदिरापान एवं विषपान के प्रभाव, नेत्रकष्ट, भतेच्छ [भस्मक व्याधि] आदि के वर्णन मिलते हैं।

७. **कल्प स्थान**—जिसमें रेचन मन्त्रोच्चार आदि का वर्णन किया गया है।

८. **सिद्धि स्थान**—जिसमें वस्तिकर्म (एनिमा) आदि का वर्णन है। मानव-शरीर संरचना (Human Anatomy)—मानव-शरीर संरचना का वर्णन ग्रन्थकार ने विस्तार पूर्वक किया है, जो संक्षेप में निम्न प्रकार है—

   १. मानव-शरीर में ३०० हड्डियां हैं जो मज्जा नामक धातु से भरी हुई हैं। उनमें ३०० जोड़ लगे हुए हैं।

   २. मक्खी के पंख के समान पतली त्वचा से यदि यह शरीर न ढंका होता तो दुर्गन्ध से भरे इस शरीर को कौन छूता ?

   ३. मानव-शरीर में ९०० स्नायु, ७०० शिराएँ एवं ५०० मांसपेशियां हैं।

   ४. उक्त शिराओं के ४ जाल, १६ कंडरा एवं ६ मूल हैं।

---

१. दे० गाथा ३३७ की सं० टीका, पृ० ५४८ तथा गाथा ३४३.
२. दे० गाथा ६०८ की सं० टीका, पृ० ७८९.
३-७. वही ११—१५.
८-९. वही १६-१७ दे० गाथा ५६७ एवं उसकी सं० टी०, पृ० ७७९
१०-११. दे० भारतीय संस्कृति (ज्ञानी) पृ० ३१४.
१२. दे० गाथा ३६०, १०५२.
१३. दे० गाथा ६८८, १२२३.
१४. दे० गाथा २१५.
१५-१६. दे० गाथा १२२३.
१७-१८. दे० गाथा १५४२.
१९. दे० गाथा १०५३—वाइयपित्तियसिंभियरोगा तण्हाछुहा समादीया।
णिच्चं तवंतिदेहं अद्दहिदजलं व जह अग्गी।।
२०-२१. दे० गाथा—१०२७-८०.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

५. मानव-शरीर में २ मांसरज्जु हैं ।
६. मानव-शरीर में ७ त्वचाएं, ७ कालेयक (मांसखण्ड) एवं ८० लाख-करोड़ रोम हैं ।
७. पक्वाशय एवं आमाशय में १६ आंतें रहती हैं ।
८. दुर्गन्धमल के ७ आशय हैं ।
९. मनुष्य-देह में ३ स्थूणा (वात पित्त श्लेष्म), १०७ मर्मस्थान और ९ व्रणमुख हैं ।
१०. मनुष्य-देह में वसानामक धातु ३ अंजुली प्रमाण, पित्त ६ अंजुली प्रमाण एवं श्लेष्म भी उतना ही रहता है ।
११. मनुष्य-देह में मस्तक अपनी एक अंजुली प्रमाण है । इसी प्रकार मेद एवं ओज अर्थात् शुक्र ये दोनों ही अपनी १-१ अंजुली प्रमाण हैं ।
१२. मानव-शरीर में रुधिर का प्रमाण ½ आढक, मूत्र १ आढक प्रमाण तथा उच्चार-विष्ठा ६ प्रस्थ प्रमाण हैं ।[१]
१३. मानव-शरीर में २० नख एवं ३२ दाँत होते हैं ।[२]
१४. मानव-शरीर के समस्त रोम-रन्ध्रों से चिकना पसीना निकलता रहता है ।[३]
१५. मनुष्य के पैर में कांटा घुसने से उसमें सबसे पहले छेद होता है फिर उसमें अंकुर के समान मांस बढ़ता है फिर वह कांटा नाड़ी तक घुसने से पैर का मांस विघटने लगता है, जिससे उसमें अनेक छिद्र हो जाते हैं और पैर निरुपयोगी हो जाता है ।[४]
१६. यह शरीर रूपी झोंपड़ी हड्डियों से बनी है । नसाजालरूपी बक्कल से उन्हें बांधा गया है, मांसरूपी मिट्टी से उसे लीपा गया है और रक्तादि पदार्थ उसमें भरे हुए हैं ।[५]
१७. माता के उदर में वात द्वारा भोजन को पचाया जाकर जब उसे रसभाग एवं खलभाग में विभक्त कर दिया जाता है तब रसभाग का १-१ बिन्दु गर्भस्थ बालक ग्रहण करता है । जब तक गर्भस्थ बालक के शरीर में नाभि उत्पन्न नहीं होती, तब तक वह चारों ओर से मातृभुक्त आहार ही ग्रहण करता रहता है ।[६]
१८. दांतों से चबाया गया कफ से गीला होकर मिश्रित हुआ अन्न उदर में पित्त के मिश्रण से कड़ुआ हो जाता है ।[७]

भ्रूण-विज्ञान—(Embroyology)—भौतिक एवं आध्यात्मिक विद्या-सिद्धियों के प्रमुख साधन-केन्द्र इस मानव-तन का निर्माण किस-किस प्रकार होता है ? गर्भ में वह किस प्रकार आता है तथा किस प्रकार उसके शरीर का क्रमिक विकास होता है, उसकी क्रमिक-विकसित अवस्थाओं का ग्रन्थकार ने स्पष्ट चित्रण किया है । यथा—

१. **कललावस्था**—माता के उदर में शुक्राणुओं के प्रविष्ट होने पर १० दिनों तक मानव-तन गले हुए तांबे एवं रजत के मिश्रित रंग के समान रहता है ।[८]
२. **कलुषावस्था**—अगले १० दिनों में वह कृष्ण वर्ण का हो जाता है ।[९]
३. **स्थिरावस्था**—अगले १० दिनों में वह यथावत् स्थिर रहता है[१०] ।
४. **बुब्बुदभूत**—दूसरे महीने में मानव-तन की स्थिति एक बबूले के समान हो जाती है ।[११]
५. **घनभूत**—तीसरे मास में वह बबूला कुछ कड़ा हो जाता है ।[१२]
६. **मांसपेशीभूत**—चौथे मास में उसमें माँसपेशियों का बनना प्रारम्भ हो जाता है ।[१३]
७. **पुलकभूत**—पाँचवें मास में उक्त मांस-पेशियों में पांच पुलक अर्थात् ५ अंकुर फूट जाते हैं, जिनमें से नीचे के दो अंकुरों से दो पैर और ऊपर के ३ अंकुर में से बीच के अंकुर से मस्तक तथा दोनों बाजुओं में से दो हाथों के अंकुर फूटते हैं ।[१४] छठवें मास में हाथों-पैरों एवं मस्तक की रचना एवं वृद्धि होने लगती है ।[१५]

---

१. इस प्रकरण के लिए देखिए गाथा संख्या ३६०, ७०२, ७२९-३०, १०२७-३५, १४९९.
२. दे० गाथा १०३५.
३. दे० गाथा १०४२.
४. दे० गाथा ४६५.
५. दे० गाथा १८१६.
६-७. दे० गाथा १०१६.
८-१०. दे० गाथा १००७.
११. दे० गाथा १००८.
१२-१५. दे० गाथा १००९.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

८. सातवें मास में उस मानव-तन के अवयवों पर चर्म एवं रोम की उत्पत्ति होती है तथा हाथ-पैर के नख उत्पन्न हो जाते हैं।[१] इसी मास में शरीर में कमल के डण्ठल के समान दीर्घनाल पैदा हो जाता है, तभी से यह जीव माता का खाया हुआ आहार उस दीर्घनाल से ग्रहण करने लगता है।[२]

९. आठवें मास में उस गर्भस्थ मानव-तन में हलन-चलन क्रिया होने लगती है।[३]

नौवें अथवा दसवें मास में वह सर्वांग होकर जन्म ले लेता है।[४]

गर्भ-स्थान की अवस्थिति—आमाशय एवं पक्वाशय इन दोनों के बीच में जाल के समान मांस एवं रक्त से लपेटा हुआ वह गर्भ ९ मास तक रहता है। खाया हुआ अन्न उदराग्नि से जिस स्थान में थोड़ा-सा पचाया जाता है, वह स्थान आमाशय और जिस स्थान में वह पूर्णतया पचाया जाता है वह पक्वाशय कहलाता है। गर्भस्थान इन दोनों (आमाशय एवं पक्वाशय) के बीच में रहता है।[५]

रोग-उपचार एवं स्वस्थ रहने के सामान्य नियम—शरीर के रोगों एवं उपचारों की भी ग्रन्थकार ने विस्तृत चर्चा की है। उनमें से कुछ निम्न प्रकार हैं—

१. आँख में ९६ प्रकार के रोग होते हैं।[६]
२. मूलाराधना के टीकाकार पं० आशाधर के अनुसार शरीर में कुल मिलाकर ५,६८,९९,५८४ रोग होते हैं।[७]
३. वात, पित्त एवं कफ के रोगों में भूख, प्यास एवं थकान का अनुभव होता है तथा शरीर में भयंकर दाह उत्पन्न होती है।[८]
४. ईख कुष्ठ रोग को नष्ट करने वाला सर्वश्रेष्ठ रसायन है।[९]
५. वात-पित्त-कफ से उत्पन्न वेदना की शान्ति के लिए आवश्यकतानुसार वस्तिकर्म (एनिमा), ऊष्मकरण, ताप-स्वेदन, आलेपन, अभ्यंगन एवं परिमर्दन क्रियाओं के द्वारा चिकित्सा करनी चाहिए।[१०]
६. गोदुग्ध, अजमूत्र एवं गोरोचन ये पवित्र औषधियां मानी गई हैं।[११]
७ कांजी पीने से मदिराजन्य उन्माद नष्ट हो जाता है।[१२]
८. मनुष्य को तेल एवं कषायले द्रव्यों का अनेक बार कुल्ला करना चाहिए। इससे जीभ एवं कानों में सामर्थ्य प्राप्त होता है। अर्थात् कषायले द्रव्य के कुल्ले करने से जीभ के ऊपर का मल निकल जाने से वह स्वच्छ हो जाने के कारण स्पष्ट एवं मधुर वाणी बोलने की सामर्थ्य प्राप्त करती है।[१३]
९. मनुष्य को अन्य पानकों की अपेक्षा आचाम्ल पानक अधिक लाभकर होता है, क्योंकि उससे कफ का क्षय, पित्त का उपशम एवं वात का रक्षण होता है।[१४]
१०. पेट की मल-शुद्धि के लिए मांड सर्वश्रेष्ठ रेचक है[१५]
११. कांजी से भीगे हुए बिल्व-पत्रादिकों से उदर को सेकना चाहिए तथा सेंधा नमक आदि से संसिक्त वर्ती गुदा-द्वार में डालने से पेट साफ हो जाता है।[१६]
१२. पुरुष के आहार का प्रमाण ३२ ग्रास एवं महिला का २८ ग्रास होता है।[१७]

१-२. दे० गाथा. १०१०, १०१७.
३-४. दे० गाथा १०१०.
५. दे० गाथा १०१२.
६. दे० गाथा १०५४.
७. दे० गाथा १०५४ की मूलाराधना सं० टी०
८. दे० गाथा १०५३.
९. दे० गाथा १२२३.
१०. दे० गाथा १४९९.
११. दे० गाथा १०५२.
१२. दे० गाथा ३९०.
१३. दे० गाथा ६८८.
१४. दे० गाथा ७०१.
१५. दे० गाथा ७०२.
१६. दे० गाथा ७०३.
१७. दे० गाथा २११.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

१३. उपवास के बाद मित और हल्का आचाम्ल भोजन लेना चाहिए।[1]

सामाजिक जीवन—मूलाराधना में सामाजिक जीवन का पूर्ण चित्र तो उपलब्ध नहीं होता, किन्तु जो सामग्री उपलब्ध है, वह बड़ी रोचक है। उसका परिचय निम्न प्रकार है :

नारी के विविध रूप—यह आश्चर्य का विषय है कि मूलाराधनाकार ने नारी के प्रति अपने अनुदार विचार व्यक्त किए हैं। उसके प्रति वह जितना रूक्ष हो सकता था, हुआ है तथा परवर्ती आचार्यों को भी उसने अपनी इन्हीं भावनाओं से अभिभूत किया है। इस अनुदारता का मूल कारण सैद्धान्तिक ही था। इसके चलते जैन-संघ के एक पक्ष ने जब उसके प्रति अपनी कुछ उदारता दिखाई तो संघ-भेद ही हो गया। मेरी दृष्टि से इस अनुदारता का कारण सैद्धान्तिक तो था ही, दूसरा कारण यह भी रहा होगा कि निश्चित सीमा तक गार्हस्थिक सुख-भोग के बाद नारी एवं पुरुष मन, वचन एवं काय से पारस्परिक व्यामोह से दूर रहें। नारी स्वभावतः ही क्षमाशील, कष्टसहिष्णु एवं गम्भीर होती है। आचार्यों ने सम्भवतः उनके इन्हीं गुणों को ध्यान में रखकर तथा पुरुषों की उनके प्रति सहज आकर्षण की प्रवृत्ति से उन्हें विरक्त करने के लिए उसके शारीरिक एवं वैचारिक दोषों को प्रस्तुत किया है। इसका अर्थ यह कदापि नहीं लेना चाहिए कि नारी समाज के प्रति स्वतः ही उनके मन में किसी प्रकार का विद्वेष-भाव था। मुझे ऐसा विश्वास है कि आचार्यों के उक्त विचारों को तत्कालीन समाज विशेषतया नारी-समाज ने स्वीकार कर लिया था, अन्यथा उसके प्रबल विरोध के सन्दर्भ प्राप्त होने चाहिए थे। मूलाराधना में नारियों की निन्दा लगभग ५० गाथाओं में की गई है। एक स्थान पर कहा गया है—"जो व्यक्ति स्त्रियों पर विश्वास करता है, वह बाघ, विष, चोर, आग, जल-प्रवाह, मदोन्मत्त हाथी, कृष्णसर्प और शत्रु पर अपना विश्वास प्रकट करता है।"[2] "कथंचित् व्याघ्रादि पर तो विश्वास किया जा सकता है किन्तु स्त्रियों पर नहीं।"[3] "स्त्री शोक की नदी, वैर की भूमि, कोप का समन्वित रूप, कपटों का समूह एवं अकीर्ति का आधार है।"[4] "यह धननाश की कारण, देह में क्षय रोग की कारण एवं अनर्थों की निवास तथा धर्माचरण में विघ्न और मोक्षमार्ग में अर्गला के समान है।"[5]

इस प्रसंग में कवि की नारी सम्बन्धी कुछ परिभाषाएं देखिए, वे कितनी मौलिक एवं सटीक हैं :—

वहु-वधु—पुरुष का विविध प्रकार की मानसिक एवं शारीरिक क्रियाओं-प्रक्रियाओं द्वारा एक साथ अथवा क्रमिक ह्रास, क्षय अथवा वध करने वाली होने के कारण वह स्त्री वधु कहलाती है।[6] (वधमुपनयति इति वधु)

स्त्री—पुरुष में दोषों का समुदाय संचित करने के कारण स्त्री स्त्री कहलाती है।[7]

नारी—मनुष्य के लिए न+अरि=नारी के समान दूसरा शत्रु नहीं हो सकता। अतः वह नारी कहलाती है।[8]

प्रमदा—मनुष्य को वह प्रमत्त-उन्मत्त बना देती है, अतः प्रमदा कहलाती है।[9]

विलया—पुरुष के गले में अनर्थों को बाँधती रहती है, अथवा पुरुष में लीन होकर वह उसे लक्ष्यच्युत कर देती है, अतः विलया कहलाती है।[10]

युवती एवं योषा—पुरुष को दुखों से युक्त करती रहती है, अतः वह युवती एवं योषा कहलाती है।[11]

अबला—हृदय में धैर्य दृढ़ न रहने के कारण वह अबला कहलाती है।[12]

कुमारी—कुत्सित मरण के उपाय करते रहने के कारण वह कुमारी कहलाती है।[13]

महिला—पुरुष के ऊपर दोषारोपण करते रहने के कारण वह महिला कहलाती है।[14]

दण्ड-प्रथा—मौर्यकालीन दण्ड-प्रथा के विषय में प्राप्त जानकारी के आलोक में शिवार्यकालीन दण्ड-प्रथा का अध्ययन कुछ मनोरंजक तथ्य उपस्थित करता है। अशोक पूर्वकालीन दण्ड-प्रथा अत्यन्त कठोर थी। अंगच्छेदन, नेत्रस्फोटन एवं मारण की सजा उस समय सामान्य थी, किन्तु सम्राट् अशोक ने उसमें पर्याप्त सुधार करके अपनी दण्डनीति उदार बना दी थी। अवश्य ही उसने मृत्यु-दण्ड को सर्वथा क्षमा नहीं किया था, फिर भी परलोक सुधारने के लिए उसने तीन दिन का अतिरिक्त जीवन-दान स्वीकृत कर दिया था।

१. दे० गाथा २५१
२-३. दे० गाथा ६५२-५३.
४-५. दे० गाथा ६८३-८५.
६-७. दे० गाथा ६७७.
८-९. दे० गाथा ६७८
१०-१४. दे० गाथा ६७९-८२.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रतीत होता है कि शिवार्यकाल तक अशोक की वे परम्पराएँ किन्हीं विशेष राजनैतिक कारणों से स्थिर नहीं रह पाई थीं और उनमें रूक्षता एवं कठोरता पुनः आ गई थी। इसका अनुमान मूलाराधना में प्राप्त उक्त विषयक सन्दर्भों से लगाया जा सकता है। दण्डों के कुछ प्रकार निम्नलिखित हैं :—

१. **दण्डन**[१]—राजा द्वारा धनापहार (Attachment of Property)
२. **मुण्डन**[२]— सामान्य अपराध पर शिरोमुण्डन।
३. **ताड़न**[३]—घूंसा, लाठी, बेंत अथवा चाबुक से पिटवाना।
४. **बन्धन**[४]—बेड़ी, सांकल, चर्मबन्ध अथवा डोरी से हाथ-पैर अथवा कमर बँधवाकर कारागार में डलवा देना।
५. **छेदन**[५]—कर्णछेद, ओष्ठछेद, नकछेद एवं मस्तकछेद कराना।
६. **भेदन**[६]—काँटों की चौकी पर लिटा देना।
७. **भंजन**[७]— दन्तभंजन, हाथी के पैरों के नीचे रुंधवा देना।
८. **अपकर्षण**[८] —आँखों एवं जीभ अथवा दोनों को खिचवा लेना।
९. **मारण**[९]—गड्ढे में फेंककर ऊपर से मिट्टी भरवा देना, गला बाँधकर वृक्षशाखा पर लटकवा देना, अग्नि, विष, सर्प, क्रूर प्राणी आदि के माध्यम से अपराधी के प्राण ले लेना।

भोज्य पदार्थ— मूलाराधना में विविध भोज्य पदार्थों के नामोल्लेख भी मिलते हैं। उनका वर्गीकरण, खाद्य, स्वाद्य एवं अवलेह्य रूप तीन प्रकार से किया गया है। ऐसे पदार्थों में अनाज से निर्मित सामग्रियों में पुआ, भात, दाल एवं घी, दही, तेल, गुड़, मक्खन, नमक, मधु एवं पत्रशाक प्रमुख हैं।[१०]

पकाए हुए भोजनों के पारस्परिक सम्मिश्रण से उनके जो सांकेतिक नाम प्रचलित थे, वे इस प्रकार हैं —

१. **संसृष्ट**[११]—शाक एवं कुल्माष (कुलत्थ) आदि से मिश्रित भोजन।
२. **फलिह**[१२]—थाली के बीच में भात रखकर उसे चारों ओर से पत्ते के शाक से घेर देना।
३. **परिख**[१३]—थाली के मध्य में भात आदि भोज्यान्न रखकर उसके चारों ओर पक्वान्न रख देना।
४. **पुष्पोपहित**[१४]—व्यञ्जनों के बीचोंबीच पुष्पों की आकृति के समान भोज्यान्न की रचना कर देना।
५. **गोवहिद**[१५]—जिसमें मोंठ आदि धान्य का मिश्रण न हो, किन्तु जिसमें भाजी, चटनी वगैरा पदार्थ मिला दिए गए हों।
६. **लेवड**[१६]—हाथ में चिपकने वाला अन्न।
७. **अलेवड**[१७]—हाथ में नहीं चिपकने वाला अन्न।
८. **पान**[१८]—सिक्थसहित अथवा सिक्थरहित भोजन।
९. **घृतपूरक**[१९]—आटे की बनाई हुई पूड़ी।

पानक-प्रकार—भोज्य-पदार्थों के अतिरिक्त पेय पदार्थों की चर्चा मूलाराधना में पृथक् रूप से की गई है। उन्हें छह प्रकार[२०] का बताया गया है—

१. **सत्थ**— उष्ण जल
२. **वहल**—कांजी, द्राक्षा, तितणीफल (इमली) का रस आदि।
३. **लेवड**—दधि आदि।
४. **अलेवड**— मॉड आदि।

१-२ दे० गाथा १५६२.
३. दे० गाथा १५६३-६४.
४-९. दे० गाथा १५९५-९६
१०. दे० गाथा २१३-२१५
११-१८. दे० गाथा २२०
१९. दे० गाथा १००६
२०. दे० गाथा ७००

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

५. **ससित्थ**—चावल के कण सहित माँड़ ।

६. **असित्थ**—चावल के कण रहित माँड ।

अस्त्र-शस्त्र—मूलाराधना में अस्त्रों-शस्त्रों के उल्लेख भी प्रचुर मात्रा में मिलते हैं। उन्हें ५ भागों में विभक्त किया जा सकता है। (१) प्रहारात्मक शस्त्रास्त्रों में—मुग्दर[1], भुशुंडि[2], गदा[3], मुशल[4], मुष्टि[5], यष्टि[6], लोष्ट[7], दण्ड[8] एवं घन[9] के नामोल्लेख मिलते हैं। इसी प्रकार छेदक शस्त्रास्त्रों में – शूल[10], शंकु[11], शर[12], असि[13], छुरिका[14], कुन्त[15], तोमर[16], चक्र[17], परशु एवं शक्ति[18], और भेदक, कर्त्तक एवं रक्षक में क्रमशः पाषाणपट्टिश[19], करकच[20] एवं कवच[21] के उल्लेख मिलते हैं ।

यन्त्र—मूलाराधना में तीन प्रकार के यन्त्रों के उल्लेख मिलते हैं। इन्हें देखकर उस समय के वैज्ञानिक आविष्कारों की सूचना मिलती है। ग्रन्थकार ने उनके नाम इस प्रकार बतलाए हैं—

१. **पीलन-यन्त्र**[22]—जिसमें पेरकर अपराधी को जान से मार डाला जाता था ।

२ **तिलपीलन यन्त्र**[23]—तिल का तेल निकालने वाला यन्त्र ।

३. **इच्छुपीलन यन्त्र**[24]—इक्षुरस निकालने वाला यन्त्र ।

प्रतीत होता है कि प्रथम प्रकार के यन्त्र पर प्रशासन का नियन्त्रण रहता होगा और भयंकर अपराधकर्मी को उस यन्त्र के माध्यम से मृत्युदण्ड दिया जाता रहा होगा। अन्य दो यन्त्र सामान्य थे, जिन्हें आवश्यकतानुसार कोई भी अपने घर रख सकता था।

लोक-विश्वास—समाज में तन्त्र, मन्त्र एवं अन्य लौकिक विद्याएँ निरन्तर ही प्रभावक रही हैं। इनके बल पर तान्त्रिकों एवं मान्त्रिकों ने लोकप्रियता प्राप्त कर अन्धश्रद्धालु वर्ग पर अपना प्रभुत्व स्थापित कर लिया था। ग्रन्थकार ने उनके कुछ रोचक सन्दर्भ प्रस्तुत किए हैं, जिनमें से एक निम्न प्रकार है—क्षपक साधु के स्वर्गवास के समय उसके हाथ-पैर एवं अंगूठा के कुछ अंश बांध देना अथवा काट देना चाहिए। यदि ऐसा न किया जायगा तो मृतक शरीर में क्रीड़ा करने के स्वभाववाला कोई भूत-प्रेत अथवा पिशाच प्रवेश कर उस शव-शरीर को लेकर भाग जायगा।[25] आगे बताया गया है कि शिविका की रचना कर बिछावन के साथ उस शव को बाँध देना चाहिए। उसका माथा घर अथवा नगर की ओर होना चाहिए, जिससे यदि वह उठकर भागे भी, तो वह घर अथवा नगर की ओर मुड़कर न भाग सके।[26]

साहित्यिक दृष्टि से—मूलाराधना केवल धार्मिक आचार का ही ग्रन्थ नहीं है, साहित्यिक दृष्टि से अध्ययन करने पर उसमें विविध काव्यरूप भी उपलब्ध होते हैं। काव्यलेखन में जिस भावुकता, प्रतिभा, मनोवैज्ञानिकता तथा रागात्मकता की आवश्यकता है, वह शिवार्य में विद्यमान है। उपर्युक्त विविध अलंकारों के प्रयोगों के साथ-साथ भावानुगामिनी भाषा एवं वैदर्भी शैली मूलाराधना की प्रमुख विशेषताएँ हैं। जो साधु बाह्याडम्बरों का तो प्रदर्शन करता है, किन्तु अपने अन्तरंग को साफ नहीं रखता, देखिए, कवि ने उपमा के सहारे उसका कितना मार्मिक वर्णन किया है—

> घोडगलिडसमाणस्स तस्स अब्भंतरम्मि कुधिदस्स ।
> बाहिरकरणं किंसे काहिदि बगणिहुदकरणस्स ।। गा० १३४७

अर्थात् जो साधु बाह्याडम्बर तो धारण करता है, किन्तु अपना अन्तरंग शुद्ध नहीं रखता, वह उस घोड़े की लीद के समान है, जो ऊपर से तो सुन्दर, सुडौल एवं चमकीली दिखाई देती है, किन्तु भीतर से वह अत्यन्त दुर्गन्धपूर्ण है। ऐसे साधु का आचार बगुले के समान मिथ्या होता है।

आत्म-स्तुति अहंकार की प्रतीक मानी गई है। भारतीय संस्कृति में उसकी सदा से निन्दा की जाती रही है। शिवार्य ने ऐसे व्यक्ति की षंढ से उपमा देते हुए कहा है—

> णय जायंति असंता गुणा विकत्थयंतस्स पुरिसस्स ।
> धंसिहु महिलायंतो व पंडवो पंडवो चेव ।। गाथा ३६२ ।।

१-२. दे० गाथा १५७१.

३. दे० गाथा १५७१ की सं० टी० पृ० १४३७.

४-२२. दे० गाथा ८५८, १५७१, १५७५-७६, १६८१ एवं सं० टीकाएँ

२३. दे० गाथा १५५५.

२४. दे० गाथा ६३३.

२५. दे० गाथा १९७६-७९ एवं उसकी सं० टी०.

२६. दे० गाथा १९८०-८१.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अर्थात् गुणहीन व्यक्ति यदि अपनी स्तुति भी करे तो क्या वह गुणी बन जाता है ? यदि कोई षंढ—नपुंसक स्त्री के समान हाव-भाव करता है तो क्या वह स्त्री बन जाता है ?

दृष्टान्तालंकार की योजना कवि ने एक कोढ़ी व्यक्ति का उदाहरण देकर की है। वह कहता है कि जिस प्रकार कोढ़ी व्यक्ति अग्निताप से भी उपशम को प्राप्त नहीं होता, उसी प्रकार विषयाभिलाषा भोगासक्ति को शान्त करने वाली नहीं, बल्कि बढ़ाने वाली ही है—

जह कोढिल्लो अग्गिं तप्पंतो णेव उवसमं लभदि।
तह भोगे भुंजंतो खणं पि णो उबसमं लभदि ॥ गा० १२५१.

शब्दावली—मूलाराधना की भाषा-शैली यद्यपि सैद्धान्तिक एवं दार्शनिक है, उसमें पारिभाषिक शब्दावलियों के ही प्रयोग किए गए हैं। फिर भी लोक भाषा के शब्द भी प्रचुर मात्रा में व्यवहृत हुए हैं। इनसे तत्कालीन शब्दों की प्रकृति एवं अर्थ-व्यञ्जना तो स्पष्ट होती ही है, आधुनिक भारतीय भाषाओं के उद्भव एवं विकास तथा भाषावैज्ञानिक अध्ययन करने की दृष्टि से भी उनका अपना विशेष महत्त्व है। कुछ शब्दावली ऐसी भी है, जिसका प्रयोग आज भी उसी रूप में प्रचलित है। यथा कुट्टाकुट्टी (गाथा १५७१), थाली (गाथा १५५२), बिल (गाथा १२), कोई (गाथा १८३०,) चुण्णाचुण्णी (चूर-चूर, गाथा १५७१), तत्त (बुन्देली एवं पंजाबी तत्ता=गर्म, गाथा १५६६), खार (क्षार, गाथा १५६६), गोट्ठ (गाथा १५५६), चालनी (गाथा १५५३), उकड् (गाथा २२४), वालुयमुट्ठी (गाथा १७५६)।

सूर्य के गमन की स्थिति को देखकर चलने वाले अणुसूरी, पडिसूरी, उड्डसूरी एवं तिरियसूरी कहे जाते थे। कड़ी धूप के समय पूर्व दिशा से पश्चिम दिशा की ओर चलने वाला अणुसूरी, पश्चिम दिशा से पूर्व दिशा की ओर चलने वाला पडिसूरी, दोपहर के समय चलने वाला उड्डसूरी एवं सूर्य को तिरछा कर चलने वाला तिरियसूरी कहलाता था (दे० गाथा २२२, पृ० ४२७)।

जैन कथा-साहित्य का आदि स्रोत—मूलाराधना जैन कथा साहित्य का आदि स्रोत माना जा सकता है। उसमें लगभग ७२ ऐसे कथा-शीर्षक हैं, जो नैतिक अथवा अनैतिक कार्य करने के फल की अभिव्यक्ति हेतु प्रस्तुत किए गए हैं। चूंकि मूलाराधना एक सिद्धांत ग्रन्थ है, कथा-ग्रन्थ नहीं, अतः उसमें कथा-शीर्षक देकर कुछ नायक एवं नायिकाओं के उदाहरण मात्र ही दिए जा सकते थे, दीर्घकथाएँ नहीं। उन शीर्षकों से यह अनुमान सहज ही लगाया जा सकता है कि वे कथाएँ प्राचीन काल से ही चली आ रही थीं और उन्हीं में से शिवार्य ने आवश्यकतानुसार कुछ शीर्षक ग्रहण किए थे। परवर्त्ती कथाकार निश्चय ही शिवार्य से प्रेरित रहे, जिन्होंने आगे चलकर उन्हीं शीर्षकों के आधार पर बृहत्कथाकोष, आराधनाकथा-कोष पुण्याश्रव कथा कोष, आदि जैसे अनेक कथा-ग्रन्थों का प्रणयन किया। मूलाराधना के कुछ कथा-शीर्षक निम्न प्रकार हैं—

१. नमस्कार मन्त्र के प्रभाव से अज्ञानी सुभग ग्वाला मरकर चम्पानगरी के वृषभदत्त सेठ का पुत्र बनकर उत्पन्न हुआ। (गाथा ७५६)
२. यम नाम का राजा मात्र एक श्लोक खण्ड का स्वाध्याय कर मोक्षगामी बना। (गाथा ७७२)
३. अल्पकालीन अहिंसा-पालन के प्रभाव से शिशुमार-सरोवर में प्रक्षिप्त चाण्डाल मरकर देव हुआ। (गाथा ८२२)
४. गोरसंदीव मुनि १२ वर्ष तक कायसुन्दरी गणिका के सहवास में रहा, किन्तु उसके पैर के कटे अंगूठे को वह नहीं देख पाया। (गाथा ६१५)
५. कामी कडारपिंग। (गाथा ६३५)
६. अत्यन्त सुन्दर पति राजा देवरति का त्याग कर रक्ता रानी गान-विद्या में निपुण एक लंगड़े से प्रेम करने लगी। (गाथा ६४६)
७. वेश्यासक्त सेठ चारुदत्त। (गाथा १०८२)
८. वेश्यासक्त मुनि शकट एवं कूपार। (गाथा ११००)
९. मधुविन्दु दर्शन। (गाथा १२७४)
१०. पाटलिपुत्र की सुन्दरी गणिका गन्धर्वदत्ता। (गाथा १३५६)
११. द्वीपायन मुनि का कोप एवं द्वारिका दहन। (गाथा १३७४)
१२. एणिका पुत्र यति। (गाथा १५४३)
१३. मुनि भद्रबाहु कथा। (गाथा १५४४)
१४. मुनि कार्तिकेय। (गाथा १५४६)

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

१५. चिलाती पुत्र-कथा। (गाथा १५५३)
१६. चाणक्य मुनि-कथा। (गाथा १५५६)

अन्य सन्दर्भ—महाभारत, रामायण (गा० ६४२), वैदिक सन्दर्भों में स्त्री, गाय एवं ब्राह्मणों की अवध्यता (गा० ७६२), निमित्त शास्त्र के अंग, स्वरादि ८ भेद (पृ० ४५०), काम की दस अवस्थाएँ (गाथा ८८२-६५), अंगसंस्कार (गा० ६३), कृषि-उपकरण (गा० ७६४), मन्त्र-तन्त्र (गा० ७६१-६२), आयातित सामग्रियों में तुरुष्क तैल (गा० १३१७), विविध निषद्याएँ (गा० १६६८-७३), विविध वसतिकाएँ एवं संस्तर (गा० ६३३-६४६), कथाओं के भेद (गा० ६५१ एवं १४४०, १६०८), अपराधकर्म (गा० १५६२-६३, ८६४-८२) तथा स्त्रियों के विविध हाव-भाव (गा० १०८६-६१) आदि प्रमुख हैं।

इस प्रकार मूलाराधना में उपलब्ध सांस्कृतिक सन्दर्भों की चर्चा की गई। किन्तु यह सर्वेक्षण समग्र एवं सर्वाङ्गीण नहीं है, ये तो मात्र उसके कुछ नमूने हैं, क्योंकि संगोष्ठी के सीमित समय में इससे अधिक सामग्री के प्रस्तुतीकरण एवं उसके विश्लेषण की स्थिति नहीं आ सकती। ग्रन्थ के विहंगावलोकन मात्र से भी मैं इस निष्कर्ष पर पहुँचा हूं कि मूलाराधना निस्सन्देह ही सिद्धांत, आचार, अध्यात्म तथा मनोवैज्ञानिक, सामाजिक, सांस्कृतिक एवं ऐतिहासिक सन्दर्भ-सामग्रियों का कोष-ग्रन्थ है। उत्तर भारत की आधुनिक भारतीय भाषाओं के उद्भव एवं विकास तथा उनके भाषावैज्ञानिक अध्ययन करने की दृष्टि से भी मूलाराधना का अपना महत्त्व है। किन्तु दुर्भाग्य यह है कि शोध-जगत् में वह अद्यावधि उपेक्षित ही बना रहा। इस पर तो ३-४ शोध-प्रबन्ध सरलता से तैयार कराए जा सकते हैं।[1]

भारतीय संस्कृति : लोक मंगल का स्वरूप

भारत जैसी मिश्रित संस्कृति, जिसमें इतने विरोधी सिद्धान्तों को स्थान मिला, अपने आरम्भ से ही बहुत सहनशील प्रकृति की थी। इतना ही नहीं, इस संस्कृति की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि सिद्धान्तों को स्वीकार करने में, (विशेषतः अध्यात्म के सम्बन्ध में) यह बहुत ही तर्कपूर्ण रही है। दूसरे की स्थिति या उसके दृष्टिकोण के सम्बन्ध में समादर की भावना एक भारतीय के लिए बहुत ही स्वाभाविक है। भारतीय मस्तिष्क के प्रतीक भारतीय साहित्य के अतिरिक्त भारतीय संस्कृति ने अपनी प्रांजल अभिव्यंजना के रूप में महत् दर्शन और महती कला को अपनाया, और इन सभी में भारतेतर मानवता के लिए भी सन्देश है। भारत ने उदासीन भाव से आक्रमणकारियों का स्वागत किया, और उन्हें जो कुछ देना था भारत ने लिया, और उनमें से बहुतों को तो भारत आत्मसात् करने में भी सफल हुआ। उसने बाह्य जगत् को भी, केवल कला, विद्या, और विज्ञान ही नहीं अपितु अध्यात्म का बहुमूल्य उपहार, अपनी प्रकृति, सामाजिक दर्शन, मानवता के कष्टों का हल, जीवन के पीछे छिपे शाश्वत सत्य की प्राप्ति आदि अपनी सर्वोत्तम भेंट दी। ब्राह्मण, बौद्ध और जैन धर्म के आदर्श सिद्धान्तों ने एक ऐसे पथ का निर्माण किया, जिस पर चलकर भारत ने अतीत में मानवता की सेवा की, और अब भी कर रहा है। भारत ने इस्लाम के रहस्यवादी दर्शन एवं सूफी मत को कुछ तत्त्व दिये; और जब ये तत्त्व पश्चिम की इस्लामी भूमि में विशिष्ट रूप धारण कर चुके तो फिर पुनः लिये भी। इसके पास जो भी विज्ञान या सायंस था, विशेषतः गणित, रसायनशास्त्र तथा चिकित्साशास्त्र में, इसने पश्चिम को दिया; और अब इस क्षेत्र में भी मानवता की साधारण पैत्रिक सम्पत्ति को धनवती बनाना चाहता है।

डॉ० सुनितिकुमार चाटुर्ज्या के निबन्ध 'भारत की आन्तर्जातिकता' से साभार
नेहरू अभिनंदन-ग्रंथ पृ० सं० ३१३

१. पंजाबी विश्व-विद्यालय पटियाला (पंजाब) द्वारा दिनांक १७—१९ अक्टूबर १९७९ को आयोजित अखिल भारतीय प्राच्य जन विद्या संगोष्ठी में प्रस्तुत एवं प्रशंसित शोध निबन्ध।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org